

प्रस्तावना

जिनपूजन रहस्य

साहित्यरत्न

पण्डित रत्नचन्द्र भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ,

एम. ए., बी एड.

मंगलाचरण

देव - वीतराग-सर्वज्ञ प्रभु, जगतबन्धु जिननाम।

चिदानन्द चैतन्यमय, शिवस्वरू प सुखधाम॥

जौ मैं वह परमात्मा, जौ जिन सो मम रू प।

चिदानन्द चैतन्यमय, सत् शिव शुद्ध स्वरू प॥

सत् स्वरू प चैतन्यघ, सत् शिव शुद्ध स्वरू प।

अवगाहन जो जन करें, पार होंय भवसिन्धु॥

जिन-सा निज को जानकर, जो ध्याते निज रू प।

वे पाते अरहन्त पद, भोगे सुख भरपूर॥

शास्त्र - जिनवाणी नित बोधनी, सुलभ रहै दिन-रैन।

वीतरागता में निमित्त, वीतराग जिन-बैन॥

गुरु - निर्विकार निर्गन्थ मुनि, यथा जनेश्वर बिम्ब।

बाहर की यह नगनता, अन्तर का प्रतिबिम्ब॥

निश-दिन निज का चिन्तवन, चर्चा निज की होय ।
चर्चा में निज ही प्रमुख, चाह अन्य नहिं कोय ॥

जिनपूजन महिमा

जिनवर के दर्शन-पूजन से, पापों का पुंज प्रलय होता ।
श्रुत के वचनामृत सुनने से, विपरीत-विभाव विलय होता ॥
घन-रूप दिगम्बर दर्शन से, मन-रूप मयूर मुदित होता ।
निजनाथ निरंजन अनुभव से, समकित का सूर्य उदित होता ॥

निज वैभव की महिमा में प्रभु ! पर वैभव की ममता भागी ।
निज आतम की अनुभूति से, अन्तर की ज्ञान-कला जागी ॥
जिन दर्शन से यह भान हुआ, मुझ में है तेरी-सी शक्ति ।
इस कारण तेरे चरणों में, प्रभुवर ! उमड़ी मेरी भक्ति ॥

पूजन से प्राप्त पुण्य को प्रभु ! मैं यहीं छोड़कर जाऊँगा ।
पूजन-प्रसाद में मैं केवल, चित की प्रसन्नता चाहूँगा ॥
सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभुवर ! ज्ञाता-दृष्टा बन जाऊँगा ।
सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों का, क्षयकर मैं शिव-पद पाऊँगा ॥

रहस्य जो जन जानते, जिन पूजन का बन्धु ।
जिन-सा निज को जानकर, प्राप्त करें सुख-सिन्धु ॥

प्राप्त करें सुख-सिन्धु, निजातम को पिछान कर ।
तजते हैं परवर्स्तु, स्व-पर का भेदज्ञान कर ॥

रमते हैं निजमांहि, पाते सुख-शांति सहज ।

तरते वे भव-सिन्धु, जो जाने पूजन रहस ॥

-- रत्नचन्द्र भारिल्ल

जिनपूजन रहस्य

देवपूजा: क्या / क्यों / कैसे ?

"देवपूजा गुरुपास्ति, स्वाध्यायः संयमस्तपः ।

दानऋति गृहस्थानां, षट् कर्माणि दिने-दिने ॥^१

देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान -- ये छह आवश्यक कार्य गृहस्थों को प्रतिदिन करना चाहिए ।"

यह पावन आदेश आचार्य पञ्चनन्दि का है । इसमें देवपूजा को प्रथम स्थान प्राप्त है ।

वह देव पूजा क्या है ? कितने प्रकार की है ? किस देव की की जाती है ? क्यों की जाती है ? कौन की जाती है ? पूजन का वास्तविक प्रयोजन क्या है ? और मोक्षमार्ग में इसका क्या स्थान है ? आदि बातें सभी धर्मप्रेमी बन्धुओं को जानने योग्य हैं ।

पूजन शब्द का अर्थ आज बहुत ही संकुचित हो गया है । पूजन को आज एक क्रिया विशेष से जोड़ दिया गया है; जबकि पूजन में पंच परमेष्ठी की वंदना, नमस्कार, स्तुति, भक्ति तथा जिनवाणी की सेवा व प्रचार-प्रसार करना, जैनधर्म की प्रभावना करना, जिनमन्दिर एवं जिनप्रतिमा का निर्माण करना-कराना आदि अनेक कार्य सम्मिलित हैं ।

जिनमार्ग में सच्ची श्रद्धा ही वास्तविक जिनपूजन है ।

भक्ति और पूजा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य अपराजित लिखते हैं:--

"का भक्ति पूजा ? अर्हदादि गुणानुरागो भक्तिः । पूजा द्विप्रकारा-द्रव्यपूजा भावपूजा चेति । गन्धपुष्पधूपाक्षतादिदानं अर्हदा-

१. पञ्चनन्दि पंचविशति (उपासक संस्कार), पृष्ठ १२८, श्लोक सं.-७

द्युदिश्य द्रव्य पूजा । अभ्युत्थानप्रदक्षिणीकरणप्रणमनादिका कायक्रिया
च वाचा गुण संस्तवनं च । भावपूजा मनसा तद्गुणानुस्मरणम् ।"⁹

प्रश्न - भक्ति और पूजा किसे कहते हैं ?

उत्तर - अरहन्त आदि के गुणों में अनुराग भक्ति है । पूजा के दो प्रकार हैं-- द्रव्यपूजा और भावपूजा ।

अरंहत आदि का उद्देश्य करके गंध, पुष्प, धूप, अक्षतादि अर्पित करना द्रव्यपूजा है तथा उनके आदर में खड़े होना, प्रदक्षिणा करना, प्रणाम करना आदि शारीरिक क्रिया और वचन से गुणों का स्तवन भी द्रव्यपूजा है तथा मन से उनके गुणों का स्मरण भावपूजा है ।"

द्रव्यपूजा व भावपूजा के सम्बन्ध में पं. सदासुखदासजी लिखते हैं:-

"अरहंत के प्रतिबिम्ब का वचन द्वार से स्तवन करना, नमस्कार करना, तीन प्रदक्षिणा देना, अंजुलि मस्तक चढाना, जलचन्दनादिक अष्टद्रव्य से की गई पूजन तो द्रव्यपूजन है ही, साथ ही देव-शास्त्र-गुरु की वन्दना करना, नमस्कार करना, प्रदक्षिणा देना, स्तुति करना आदि क्रियायें भी द्रव्यपूजन हैं ।

जिनेन्द्र भगवान की पूजन भगवान को प्रसन्न करने के लिए नहीं, अपने चित्त की प्रसन्नता के लिए की जाती है; क्योंकि जिनेन्द्र भगवान तो वीतरागी होने से किसी से प्रसन्न या नाराज होते ही नहीं हैं । हा, उनके गुणस्मरण से हमारा मन अवश्य पवित्र हो जाता है ।

१. भगवती आराधना, गाथा ४६ की विजयोदया टीका
२. रत्नकरण श्रावकाचार श्लोक ११९ की टीका, पृष्ठ २०८

इस सन्दर्भ में आचार्य समन्तभद्र का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है --

"न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्त वैरे ।

तथापि ते पुण्य गुणस्मृतिर्नः, पुनाति चित्तं दुरितान्जनेभ्यः ॥१
यद्यपि जिनेन्द्र भगवान वीतराग हैं, अतः उन्हें अपनी पूजा से कोई

प्रयोजन नहीं है तथा वैर रहित हैं, अतः निन्दा से भी उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है; तथापि उनके पवित्र गुणों का स्मरण पापियों के पापरूप मल से मलिन मन को निर्मल कर देता है।"

कुछ लोग कहते हैं कि यद्यपि भगवान् कुछ देते नहीं हैं, तथापि उनकी भक्ति से कुछ न कुछ मिलता अवश्य है। इस प्रकार वे जिनपूजा को प्रकारान्तर से भोगसामग्री की प्राप्ति से जोड़ देते हैं; किन्तु उक्त छन्द में तो अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा गया है कि -- उनकी भक्ति से भक्त का मन निर्मल हो जाता है। मन का निर्मल हो जाना ही जिनपूजा-जिनभक्ति का सच्चा फल है। ज्ञानीजन तो अशुभभाव व तीव्रराग से बचने के लिए ही भक्ति करते हैं।

इस सन्दर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र की निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं--
"अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति ।
उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यारथानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वर-
विनोदार्थं वा कदाचिज्ञानिनो पि भवतीति ॥२

इस प्रकार का राग मुख्यरूप से मात्र भक्ति की प्रधानता और स्थूल लक्षवाले अज्ञानियों को होता है। उच्चभूमिका में रिथति न हो तो तबतक अस्थान का राग रोकने अथवा तीव्ररागज्वर मिटाने के हेतु से कदाचित् ज्ञानियों को भी होता है।

उक्त दोनों कथनों पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट होती है कि आचार्य अमृतचन्द्र तो कुस्थान में राग के निषेध और तीव्रराग ज्वर निवारण की बात कह कर नास्ति से बात करते हैं और उसी बात को आचार्य समन्तभद्र चित्त की निर्मलता की बात कहकर अस्ति से कथन करते हैं।

१. स्वयंभू स्तोत्र छन्द ५७। २. पंचास्तिकाय, गाथा १३६ की टीका।

इस प्रकार पूजन एवं भक्ति का भाव मुख्यरूप से अशुभराग व तीव्रराग से बचा कर शुभराग व मंदरागरूप निर्मलता प्रदान करता है।

यद्यपि यह बात सत्य है कि भक्ति और पूजन का भाव मुख्यरूप से शुभभाव है, तथापि

ज्ञानी धर्मात्मा मात्र शुभ की प्राप्ति के लिए पूजन भवित्व नहीं करता। वह तो जिनेन्द्र की मूर्ति के माध्यम से मूर्तिमान जिनेन्द्र देव को एवं जिनेन्द्र देव के माध्यम से निज परमात्मस्वभाव को जानकर, पहिचान कर, उसी में रम जाना, जम जाना चाहता है।

तिलोयपण्णत्ती आदि ग्रन्थों में सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारणों में जिनबिम्बदर्शन को भी एक कारण बताया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिनपूजा अशुभभाव से बचने के साथ-साथ सम्यक्त्वोत्पत्ति, भेदविज्ञान, आत्मानुभूति एवं वीतरागता की वृद्धि में भी निमित्तभूत है। स्तुतियों और भजनों की निम्नांकित पंक्तियों से यह बात स्पष्ट है--

"तुम गुण चिन्तत निज-पर विवेक प्रकटै विघटै आपद अनेक।

X

X

X

जय परम शान्त मुद्रा समेत, भविजन को निज अनुभूति हेत । १

हे भगवान ! आपके निर्मल गुणों के चिन्तन-स्मरण करने से अपने व पराये की पहचान हो जाती है, निज क्या है और पर क्या है-- ऐसा भेदज्ञान प्रकट हो जाता है और उससे अनेक आपत्तियों का विनाश हो जाता है।

हे प्रभो ! आपकी परम शान्त मुद्रा भव्य जीवों को आत्मानुभूति में निमित्त कारण है।"

इस सन्दर्भ में निम्नांकित भजन की पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं--

"निरखत जिनचन्द्र-वदन स्व-पद सुरुचि आई।

प्रकटी निज-आन की पिछान ज्ञानभान की

कला उदोत होत काम जामनी पलाई ॥ निर. ॥२

१. पण्डित दौलतराम कृत देव स्तुति । २. पण्डित दौलतराम कृत आध्यात्मिक भजन ।

जिनेन्द्र भगवान का भक्त जिनप्रतिमा के दर्शन के निमित्त से हुई अपूर्व उपलब्धि से भाव विभोर होकर कहता है कि-- "जिनेन्द्र भगवान के मुखचन्द्र के निरखते ही मुझे अपने स्वरूप

को समझने की रुचि जागृत हो गई। इतना ही नहीं, अपितु अपने व पराये की पहचान भी प्रकट हो गई तथा ज्ञानरूपी सूर्य की कला के प्रकट होने से मेरा मोह एवं काम विकार भी पलायन कर गया है।"

ज्ञानीजन यद्यपि लौकिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिए जिनेन्द्र-भक्तिकदापि नहीं करते, तथापि मूल प्रयोजनों की पूर्ति के साथ-साथ उनके लौकिक प्रयोजनों की पूर्ति भी होती है, क्योंकि शुभभाव और मन्दराग की स्थिति में नहीं चाहते हुए भी जो पुण्य बँधता है, उसके उदयानुसार यथासमय थोड़ी-बहुत लौकिक अनुकूलतायें भी प्राप्त होती ही हैं। लौकिक अनुकूलता का अर्थ मात्र अनुकूल भोगसामग्री की प्राप्ति ही नहीं है, अपितु धर्मसाधन और आत्मसाधन के अनुकूल वातावरण की प्राप्ति भी है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिनेन्द्र भगवान का भक्त भोगों का भिखारी तो होता ही नहीं है, वह भगवान से भोगसामग्री की माँग तो करता ही नहीं है; साथ में उसकी भावना मात्र शुभभाव की प्राप्ति की भी नहीं होती, वह तो एकमात्र वीतरागभाव का ही इच्छुक होता है; तथापि उसे पूजन और भक्तिके काल में सहज हुए शुभभावानुसार पुण्य-बंध भी होता है और तदनुसार आत्मकल्याण की निमित्तभूत पारमार्थिक अनुकूलताएँ व अन्य लौकिक अनुकूलताएँ भी प्राप्त होती हैं।

पूजा एक त्रिमुखी प्रक्रिया है। पूजा में पूज्य, पूजक एवं पूजा-- ये तीन अंग प्रमुख हैं। जिसतरह सफल शिक्षा के लिए सुयोग्य शिक्षक, सजग शिक्षार्थी एवं सार्थक शिक्षा का सु-समायोजन आवश्यक है; उसी तरह पूजा का पूरा फल प्राप्त करने के लिए पूज्य, पूजक एवं पूजा का सुन्दर समायोजन जरूरी है। इसके बिना पूजा की सार्थकता संभव नहीं है। पूज्य सदृश पूर्णता एवं पवित्रता प्राप्त करना ही पूजा की सार्थकता है।

जब पूजक पूजा करते समय पूज्य परमात्मा के गुणगान करता है, उनके गुणों का स्मरण करता है, उनके परमात्मा बनने की प्रक्रिया पर विचार करता है, परमात्मा के जीवनदर्शन का आद्योपान्त अवलोकन करता है, अरहंत, सिद्ध और साधुओं के स्वरूप से अपने स्वभाव को समझने का प्रयत्न करता है; तब उसे सहज ही समझ में आने लगता है कि-- "अहो ! मैं भी तो स्वभाव से परमात्मा की भाँति ही अनन्त असीम शक्तियों का संग्रहालय हूँ, अनन्त गुणों का गोदाम हूँ, मेरा स्वरूप भी तो सिद्ध सदृश ही है। मैं स्वभाव की सामर्थ्य से सदा भरपूर हूँ। मुझ

में परलक्ष्यी ज्ञान के कारण जो मोह-राग-द्वेष हो रहे हैं, वे दुःखरूप हैं,-- इसप्रकार सोचते-विचारते उसका ध्यान जब भगवान की पूर्व पर्यायों पर जाता है तब उसे ख्याल आता है कि जब शेर जैसा कूर पशु भी कालान्तर में परमात्मा बन सकता है तो मैं क्यों नहीं बन सकता ? सभी पूज्य परमात्मा अपनी पूर्व पर्यायों में तो मेरे जैसे ही पासर थे ! जब वे अपने त्रिकाली स्वभाव का आश्रय लेकर परमात्मा बन गये तो मैं भी अपने स्वभाव के आश्रय से पूर्णता व पवित्रता प्राप्त कर परमात्मा बन सकता हूँ। -- इसप्रकार की चिन्तनधारा ही भक्त को जिनदर्शन से निजदर्शन कराती है, यही आत्मदर्शन होने की प्रक्रिया है, पूजन की सार्थक प्रक्रिया है।

यद्यपि पूजा स्वयं में एक रागात्मक वृत्ति है, तथापि वीतराग देव की पूजा करते समय पूजक का लक्ष्य यदा-कदा अपने वीतराग स्वभाव की ओर भी झुकता है, बस यही पूजा की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।

पूजा में शुभराग की मुख्यता रहने से पूजक अशुभरागरूप तीव्रकषायादि पाप परिणति से बचा रहता है। तथा वीतरागी परमात्मा की उपासना से सांसारिक विषय-वासना के संस्कार भी क्रमशः क्षीण होते जाते हैं और स्वभाव-सन्मुखता की रुचि से आत्मबल में भी वृद्धि होती है; क्योंकि रुचि अनुयायी वीर्य स्फुरित होता है। अन्ततोगत्वा पूजा के रागभाव का भी अभाव करके पूजक वीतराग सर्वज्ञ पद प्राप्त कर स्वयं पूज्य हो जाता है। इसी अपेक्षा से जिनवाणी में पूजा को परम्परा से मुक्ति का कारण कहा गया है।" १

१. भुक्ति मुक्ति दातार, चौबीसों जिनराजवर। (चौबीस तीर्थकर पूजा)

निश्चयपूजा

निश्चयनय से तो पूज्य-पूजक में कोई भेद ही दिखाई नहीं देता। अतः
इस दृष्टि से तो पूजा का व्यवहार ही संभव नहीं है। निश्चयपूजा के सम्बन्ध
में आचार्यों ने जो मंतव्य प्रकट किये हैं, उनमें कुछ प्रमुख आचार्यों के विचार
द्रष्टव्य हैं--

आचार्य योगीन्दुदेव लिखते हैं--

"मणु मिलियु परमेसरहं परमेसरु वि मणस्स ।

बीहि वि समरसि हूबाहै पूज्ज चढावहु करस्स ॥१

विकल्परूप मन भगवान आत्मा से मिल गया, तन्मय हो गया और
परमेश्वरस्वरूप भगवान आत्मा भी मन से मिल गया। जब दोनों ही समरस
हो गये तो अब कौन/किसकी पूजा करे ? अर्थात् निश्चयदृष्टि से देखने पर
पूज्य-पूजक का भेद ही दिखाई नहीं देता तो किसको अर्ध्य चढ़ाया जावे ?"

इसीतरह आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं--

"यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः ।

अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥२

स्वभाव से जो परमात्मा है, वही मैं हूँ तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ, वही
परमात्मा है; इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ, दूसरा कोई अन्य नहीं ।"

इसी बात को कुन्दकुन्दाचार्य देव ने अभेदनय से इसप्रकार कहा है--

"अरुहा सिद्धायरिया उज्ज्ञाया साहु पंच परमेष्ठी ।

ते वि हु चिद्धुहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥३

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु-- ये जो पंच परमेष्ठी हैं;
वे आत्मा में ही चेष्टारूप हैं, आत्मा ही की अवस्थायें हैं, इसलिए मेरे आत्मा
ही का मुझे शरण है ।"

इसप्रकार यह स्पष्ट होता है कि अपने आत्म में ही उपास्य-उपासक
भाव घटित करना निश्चयपूजा है ।

१. परमात्मा प्रकाश १/१२३/२
२. समाधितन्त्र श्लोक ३१
३. अष्टपाहुडः मोक्ष पाहुड मूल
श्लोक १०४

व्यवहारपूजा: भेद-प्रभेद

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पूज्य, पूजक, पूजा; नाम, स्थापना आदि; तथा इन्द्र, चक्रवर्ती
आदि द्वारा की जानेवाली पूजा की अपेक्षा व्यवहार पूजन के अनेक भेद-प्रभेद हैं ।

पूजा को द्रव्यपूजा और भावपूजा में विभाजित करते हुए आचार्य अमितगति उपासकाचारमें लिखते हैं--

"वचो विग्रह संकोचो, द्रव्यपूजा निगद्यते ।

तत्र मानस संकोचो, भावपूजा पुरातनैः ॥१

वचन और काय को अन्य व्यापारों से हटाकर स्तुत्य (उपास्य) के प्रति एकाग्र करने को द्रव्यपूजा कहते हैं और मन की नाना प्रकार से विकल्पजनित व्यग्रता को दूर करके उसे ध्यान तथा गुण चिन्तनादि द्वारा स्तुत्य में लीन करन को भावपूजा कहते हैं ।"

आचार्य अमितगति ने अमितगति श्रावकाचार में एवं आचार्य वसुनन्दि ने वसुनन्दि श्रावकाचार में द्रव्यपूजा के निम्नांकित तीन भेद किये हैं २--

(१) सचित्त पूजा (२) अचित्त पूजा (३) मिश्र पूजा ।

१. सचित्त पूजा- प्रत्यक्ष उपस्थित समवशरण में विराजमान जिनेन्द्र भगवान और निर्गन्ध गुरु आदि का यथायोग्य पूजन करना सचित्त द्रव्य पूजा है ।

२. अचित्त पूजा- तीर्थकर के शरीर (प्रतिमा) की ओर द्रव्यश्रुत (लिपिबद्ध शास्त्र) की पूजन करना अचित्त द्रव्य पूजा है ।

३. मिश्र पूजा- उपर्युक्त दोनों प्रकार की पूजा करना मिश्रद्रव्य पूजा है ।

सचित्त फलादि से पूजन करनेवालों को उपर्युक्त कथन पर विशेष ध्यान देना चाहिये । इसमें अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सचित्तता

४. स्तुतिवाप, प्रस्तावना, पृष्ठ १०: जुगलकिशोर मुख्तार ।

५. अमितगति श्रावकाचार, १२-१३ एवं वसुनन्दि श्रावकाचार, श्लोक ४४१-५०

सामग्री की नहीं, आराध्य ही होना चाहिए । सचित्त माने साक्षात् सशरीर जिनेन्द्र भगवान और अचित्त माने उनकी प्रतिमा ।

महापुराण में द्रव्यपूजा के पाँच प्रकार बताये हैं १--

६. सदार्चन (नित्यमह) २. चतुर्मुख ३. कल्पद्रुम ४. आष्टाहिक

७. ऐन्द्रध्वज ।

१. सदार्चन पूजा- इसे नित्यमह पूजा या नित्यनियम पूजा भी कहते हैं ।

यह चार प्रकार से की जाती है ।

(अ) अपने घर से अष्ट द्रव्य ले जाकर जिनालय में जिनेन्द्रदेव की पूजा करना ।

(आ) जिन प्रतिमा व जिन मन्दिर का निर्माण करना ।

(इ) दानपत्र लिखकर ग्राम-खेत आदि का दान देना ।

(ई) मुनिराजों को आहार दान देना ।

२. चतुर्मुख (सर्वतोभद्र) पूजा-- मुकुटबद्ध राजाओं द्वारा

महापूजा करना ।

३. कल्पद्रुप पूजा-- चक्रवर्ती राजा द्वारा किमिच्छिक दान देने के साथ जिनेन्द्र भगवान का पूजोत्सव करना ।

४. आष्टाहिक पूजा-- अष्टाहिका पर्व में सर्वसाधारण के द्वारा पूजा का आयोजन करना ।

५. ऐन्द्रध्वज पूजा-- यह पूजा इन्द्रों द्वारा की जाती है ।

उपर्युक्त पाँच प्रकार की पूजनों में हम लोग सामान्यजन प्रतिदिन केवल सदार्चन (नित्यमह) का 'अ' भाग ही करते हैं । शेष पूजनों भी यथा-अवसर यथायोग्य व्यक्तियों द्वारा की जाती हैं ।

वसुनन्दि श्रावकाचार में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से द्रव्यपूजा के छह भेद कहे हैं--

१. महापुराण श्रावकाचार, सर्ग ३८/२६-३३

५. नाम पूजा-- अरहंतादि का नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेश में
जो पुष्पक्षेपण किये जाते हैं, वह नामपूजा है।

६. स्थापना पूजा-- यह दो प्रकार की है, सद्भाव स्थापना और
असद्भाव स्थापना। आकारवान वस्तु में अरहंतादि के गुणों का आरोपण
करना सद्भाव स्थापना है तथा अक्षतादि में अपनी बुद्धि से यह परिकल्पना
करना कि यह अमुक देवता है, असद्भाव स्थापना है। असद्भाव स्थापना
मूर्ति की उपस्थिति में नहीं की जाती।।

७. द्रव्य पूजा-- अरहंतादि को गंध, पुष्प, धूप, अक्षतादि समर्पण
करना तथा उठकर खड़े होना, नमस्कार करना, तीन प्रदक्षिणा देना आदि
शारीरिक क्रियाओं तथा वचनों से स्तवन करना द्रव्यपूजा है।

८. भाव पूजा-- परमभक्ति से अनन्त चतुष्टयादि गुणों के कीर्तन
द्वारा त्रिकाल वन्दना करना निश्चय भाव पूजा है। पंच नमस्कार मन्त्र का
जाप करना तथा जिनेन्द्र का स्तवन अर्थात् गुणस्मरण करना भी भाव पूजा
है। तथा पिण्डस्थ, पदस्थ आदि चार प्रकार के ध्यान को भी भाव पूजा
कहा गया है।

९. क्षेत्र पूजा-- तीर्थकरों की पंचकल्याणक भूमि में स्थित तीर्थ
क्षेत्रों की पूर्वोक्त प्रकार से पूजा करना क्षेत्र पूजा है।

१०. काल पूजा-- तीर्थकरों की पंचकल्याणक तिथियों के अनुसार
पूजन करना तथा पर्व के दिनों में विशेष पूजायें करना काल पूजा है।।
जिनपूजा में अन्तरंग भावों की ही प्रधानता है, क्योंकि वीतरागी
होने से भगवान को तो पूजा से कोई प्रयोजन ही नहीं है। पूजक के जैसे
परिणाम होंगे, तदनुसार ही उसे फल की प्राप्ति होती है।

१. वसुनन्दि श्रावकाचार, ३८३-३८४

२. भगवती आराधना, गाथा ४६ विजयोदया टीका एवं वसुनन्दि श्रावकाचार, ४५६ से ४५८

पूजन विधि और उसके अंग

पूजन विधि और उसके अंगों में देश, काल और वातावरण के अनुसार यत्क्रियत् परिवर्तन होते रहे हैं, परन्तु उन परिवर्तनों से पूजन की मूलभूत भावना, प्रयोजन और उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं आया। उद्देश्य में अन्तर आने का कारण पूजन की विभिन्न पद्धतियाँ नहीं, बल्कि तद्विषयक अज्ञान होता है। जहाँ पूजन ही साध्य समझ ली गई हो या किसी विधि विशेष को अपने पंथ की प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया गया हो, वहाँ मूलभूत प्रयोजन की पूर्ति की संभावनायें क्षीण हो जाती हैं।

वर्तमान पूजन-विधि में पूजन के कहीं पाँच अंगों का और कहीं छह अंगों का उल्लेख मिलता है। दोनों ही प्रकार के अंगों में कुछ-कुछ नाम साम्य होने पर भी व्याख्याओं में मौलिक अन्तर है। दोनों ही मान्यतायें व विधियाँ वर्तमान में प्रचलित हैं। अतः दोनों ही विधियाँ विचारणीय हैं।

पण्डित सदासुखदासजी ने रत्नकरण श्रावकाचार की टीका में पूजन के पाँच अंगों का निर्देश किया है। १ इस सन्दर्भ में वे लिखते हैं:-

"व्यवहार में पूजन के पाँच अंगनि की प्रवृत्ति देखिये है

१. आहानन (२) स्थापन (३) सन्निधापन या सन्निधिकरण

(४) पूजन और (५) विसर्जन।

"सो भावनि के जोड़वा वास्ते आहाननादिकनि में पुष्पक्षेपण करिये हैं। पुष्पनि कूँ प्रतिमा नहीं जानै हैं। ए तो आहाननादिकनि का संकल्प तैं पुष्पांजलि क्षेपण है। पूजन में पाठ रच्या होय तो स्थापना करले, नाहीं होय तो नहीं करे। अनेकान्तिनि के सर्वथा पक्ष नाहीं। भगवान परमात्मा तो सिद्ध लोक में हैं, एक प्रदेश भी स्थान तैं चले नाहीं, परन्तु तदाकार प्रतिबिम्ब सूँ ध्यान जोड़ने के अर्थि साक्षात् अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु रूप का प्रतिमा में निश्चय करि प्रतिबिम्बनि में ध्यान रत्वन करना।" २

२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार पण्डित सदासुखदासजी, श्लोक ११९, पृष्ठ २१४
३. रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ११९ की टीका पृष्ठ २१४

इसी सन्दर्भ में जैन निबन्ध रत्नावलि का निम्नलिखित कथन भी द्रष्टव्य है--

"सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू में और पचानन्दि पंचविशति में अर्हदादि की पूजा में सिर्फ अष्ट द्रव्यों से पूजा तो लिखी है, किन्तु आहानन, स्थापन, सन्निधिकरण व विसर्जन नहीं लिखा है। ये सर्वप्रथम पं. आशाधरजी के प्रतिष्ठा पाठ में और अभिषेक पाठ में मिलते हैं, किन्तु अर्हतादि का विसर्जन भी लिख दिया है।

इसी श्रंखला में इसी काल के आस-पास यशोनन्दि कृत संस्कृत की पंचपरमेष्ठी पूजन में भी पूजन के चार अंग ही मिलते हैं, विसर्जन उसमें भी नहीं है।"^१

इसप्रकार प्राचीन और अर्वाचीन दोनों की पूजन पद्धतियों में पूजन के उपर्युक्त पाँचों अंगों का यत्किंचित् फेर-फार के साथ प्रचलन पाया जाता है।

यद्यपि सिद्धलोक में विराजमान वीतराग भगवान के पूजन में तार्किक दृष्टि से विचार करने पर इनका औचित्य प्रतीत नहीं होता, परन्तु भक्तिभावना के स्तर का यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य व व्यावहारिक सत्य है। यह पूजन पद्धति की एक सहज प्रक्रिया है, जो भावनाओं से ही अधिक सम्बन्ध रखती है। पूजा में पूजक के मन में पूज्य के प्रति एक ऐसी सहज परिकल्पना या मनाभावना होती है कि मानो पूज्य मेरे सामने ही खड़े हैं, अतः यह आहाननादि के द्वारा 'ॐ ह्नी.....अत्र अवतर-अवतर संवौषट्, अत्र तिष्ठ-तिष्ठ ठः ठः, अत्र मम सन्निहितो भव-भव वषट्' बोलकर उन्हें बुलाने, सम्मान सहित बिठाने तथा सन्निकट लाने की भावना भाता है,

मनमन्दिर के सिंहासन पर बिठाकर पूज्य की पूजा-अर्चना करना चाहता है।

जिनमन्दिर में तदाकार स्थापना के रूप में जिनप्रतिमा विद्यमान होती है। उसी एक तदाकार स्थापना में सभी पूज्य परमात्माओं की तदाकार

६. जैन निबन्ध रत्नावली: मिलापचन्द रत्नलाल कटारिया, पृष्ठ २६५

परिकल्पना करली जाती है। ठोना में पुष्टों का क्षेपण तो केवल पुष्टांजलि अर्पण करना है।

पाँच अंगों का सामान्य अर्थ इसप्रकार है--

७. आहाननः पूज्य को बुलाने की मनोभावना।

८. स्थापनः बुलाये गये पूज्य को ससम्मान उच्चासन पर विराजमान करने की मनोभावना।

९. सन्निधिकरणः भावना के स्तर पर अत्यन्त भवित्पूर्वक उच्चासन पर बिठाने पर भी तृप्ति न होने से अतिसन्निकट अर्थात् हृदय के सिंहासन पर बिठाने की तीव्र उत्कंठा या मनोभावना।

१०. पूजनः पूजन वह क्रिया है, जिसमें भक्त भगवान की प्रतिमा

के समक्ष अष्ट द्रव्य आदि विविध आलम्बनों द्वारा कभी तो

उन अष्ट द्रव्यों को परमात्मा के गुणों के प्रतीक रूप देखता

हुआ क्रमशः एक-एक द्रव्य का आलम्बन लेकर भगवान का

गुणानुवाद करता है। कभी उन अष्ट द्रव्यों को विषयों में

अटकाने में निमित्तभूत भोगों का प्रतीक मानकर उन्हें

भगवान के समक्ष त्यागने की भावना भाता है। कभी अनर्घ्य

(अमूल्य) पद की प्राप्ति हेतु अर्घ्य (बहुमूल्य) सामग्री के रूप में

पुण्य से प्राप्त सम्पूर्ण वैभव का समर्पण करने को उत्सुक

दिखाई देता है। भक्त की इसी क्रिया/प्रक्रिया को पूजन

कहते हैं।

११. विसर्जनः पूजा की समाप्ति पर पूजा के समय हुई द्रव्य एवं
भावसम्बन्धी त्रुटियों के लिए अत्यन्त विनम्र भावों से क्षमा
प्रार्थना के साथ भक्तिभाव प्रकट करते हुए पूज्य की चरण-
शरण सदा प्राप्त रहे-- ऐसी कामना करना विसर्जन है।

अभिषेक या प्रक्षाल

सर्वप्रथम यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि उक्त पाँचों अंगों में
अभिषेक या प्रक्षाल सम्मिलित नहीं है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि
अभिषेक या प्रक्षाल के बिना भी पूजन अपूर्ण नहीं है। प्रत्येक पूजक को
अभिषेक करना अनिवार्य नहीं है, आवश्यक भी नहीं है। बार-बार प्रक्षाल
करने से प्रतिमा के अंगों पर अल्पकाल में ही घिस जाते हैं, पाषाण भी खिरने
लगता है; अतः प्रतिमा की सुरक्षा की दृष्टि से भी प्रतिदिन दिन में एक बार ही
शुद्ध प्रासुक जल से प्रक्षाल होना चाहिये। मूर्तिमान तो त्रिकाल पवित्र ही है,
केवल मूर्ति में लगे रजकणों की स्वच्छता हेतु प्रक्षाल किया जाता है, मूर्ति
को स्वच्छ रखने में शिथिलता न आने पाये, एतदर्थ प्रतिदिन प्रक्षाल करने का
नियम है।

वर्तमान में अभिषेक के विषय में दो मत पाये जाते हैं। प्रथम मत के
अनुसार पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होने के बाद जिनप्रतिमा समवशरण के
प्रतीक जिनमन्दिर में विराजमान अरहंत व सिद्ध परमात्मा की प्रतीक मानी
जाती है। इसलिए उस अरहंत की प्रतिमा का अभिषेक जन्म कल्याणक के
अभिषेक का प्रतीक नहीं हो सकता।

रत्नकरण श्रावकाचार में अरहंत परमात्मा की प्रतिमा के अभिषेक के
विषय में लिखा है-- "यद्यपि भगवान् के अभिषेक का प्रयोजन नाहीं, तथापि
पूजक के प्रक्षाल करते समय ऐसा भक्तिरूप उत्साह का भाव होता है-- जो

मैं अरहंत कूँ ही साक्षात् स्पर्श करूँ हूँ ।"⁹

कविवर हरजसराय कृत अभिषेक पाठ में तो यह भाव और सशक्त ढंग से व्यक्त हुआ है । वे लिखते हैं--

"पापाचरण तजि नहन करता, चित्त में ऐसे धरूँ ।

साक्षात् श्री अरहंत का, मानो नहन् परसन करूँ ॥

ऐसे विमल परिणाम होते, अशुभ नशि शुभबन्धतैँ ।

विधिर अशुभ नसि शुभ बन्धतैँ, है शर्म३ सब विधिष्ठ नासतैँ ।"

आगे अभिषेक करता हुआ पूजक अपनी पर्याय को पवित्र व धन्य अनुभव करता हुआ कहता है-

१२. रत्नकरणः पं. सदासुखदासजी की टीका पृष्ठ २०८ २. कर्म ३. सुख ४. सब प्रकार से

"पावन मेरे नयन भये तुम दरस तैँ । पावन पाणि१ भये तुम चरनन परस तैँ ॥

पावन मन है गयो तिहारे ध्यान तैँ । पावन रसना मानी तुम गुन-गान तैँ ॥

पावन भई परजाय मेरी, भयो मैं पूरन धनी ।

मैं शक्तिपूर्वक भक्ति कीनी, पूर्ण भक्ति नहीं बनी ॥

धनि धन्य ते बड़भागि भवि, तिन नीव शिवघर की धरी ।

वर क्षरसागर आदि जल मणि, कुंभ भरि भक्ति करो ॥"

इसके आगे पूजक प्रक्षाल का प्रयोजन प्रकट करता हुआ कहता है-

"तुम तो सहज पवित्र, यही निश्चय भयो । तुम पवित्रता हेत नहीं मज्जन२ ठयो ॥

मैं मलीन रागदिक मल करि है रहयो । महामलिन तन में वसुविधि वश दुःख सह्य ।।"³

इसके साथ-साथ प्रतिदिन प्रक्षाल करने का दूसरा प्रयोजन

परम-शान्त मुद्रा युक्त वीतरागी प्रतिमा की वीतरागता, मनोज्ञता व निर्मलता

बनाये रखने के लिए यत्नाचारपूर्वक केवल छने या लोंग आदि द्वारा प्राप्त

पानी से प्रतिमा को परिमार्जित करके साफ-सुथरा रखना भी है ।

दुग्धाभिषेक करनेवालों को यदि यह भ्रम हो कि देवेन्द्र क्षीरसागर के दुग्ध से भगवान का अभिषेक करते हैं तो उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि क्षीरसागर में त्रस-स्थावर जन्तुओं से रहित शुद्ध निर्मल जल ही होता है, दूध नहीं। क्षीरसागर तो केवल नामनिक्षेप से उस समुद्र का नाम है।

द्वितीय मत के अनुसार अभिषेक जन्म कल्याणक का प्रतीक माना गया है। सोमदेवसूरि (जो मूलसंघ के आचार्य नहीं है) द्वितीय मत के अनुसर्ता जान पड़ते हैं, क्योंकि उन्होंने अभिषेक विधि का विधान करते समय वे सब क्रियायें बतलाई हैं, जो जन्माभिषेक के समय होती हैं। यह जन्माभिषेक भी इन्द्र और देवगण द्वारा क्षीरसागर के जीव-जन्तु रहित निर्मल जल से ही किया जाता है, दूध-दही आदि से नहीं।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि दोनों ही मान्यताओं के अनुसार जिन प्रतिमा का अभिषेक या प्रक्षाल केवल शुद्ध प्रासुक निर्मल जल से ही किया जाना चाहिये।

१३. हाथ २. परिमार्जन करना, अंगों से पौंछना। ३. बृहदिज्जनवाणी संग्रहः टोडरमल स्मारक
जयपुर पृष्ठ ६२

पूजन के लिए प्रासुक अष्ट द्रव्य

पूजन के विविध आलम्बनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण आलम्बन अष्ट द्रव्य माने जाते हैं। अष्ट द्रव्य चढाने के सम्बन्ध में वर्तमान में स्पष्ट दो मत हैं। प्रथम पक्ष के अनुसार तो अचित्त प्रासुक द्रव्य ही पूजन के योग्य है। यह पक्ष सचित्त द्रव्य को हिंसामूलक होने से स्वीकार नहीं करता तथा दूसरा पक्ष पूजन सामग्री में सचित्त अर्थात् हरितकाय फल-फूल एवं पकवान व मिष्टान्न को भी पूजन के अष्ट द्रव्य में सम्मिलित करता है।

इस सम्बन्ध में यदि हम अपना पक्षव्यामोह छोड़कर साम्यभाव से आगम का अध्ययन करें और उनकी नय विवक्षा को समझने का प्रयत्न करें तो हमें बहुत कुछ समाधान मिल सकता है।

पूजन के छन्दों के आधार पर जिन लोगों का यह आग्रह रहता है कि- जब हम विविध फलों और पकवानों के नाम बोलते हैं तो फिर उन्हें ही क्यों न चढ़ायें ? भले ही वे सचित हों, अशुद्ध हों ।

उनसे हमारा अनुरोध है कि हमारी पूजा में आद्योपान्त एक वस्तु भी तो वास्तविक नहीं है । स्वयं हमारे पूज्य परमात्मा की स्थापना एक पाषाण की प्रतिमा में की गई है । देवकृत दिव्य समवशरण की स्थापना सीमेंट, ईंट-पत्थर के बने मन्दिर में की गई है । स्वयं पूजक भी असली इन्द्र कहाँ है ? जब आद्योपान्त सभी में स्थापना निक्षेप से काम चलाया गया है, तो अकेले अष्ट द्रव्य के सम्बन्ध में ही हिंसामूलक सचित मौलिक वस्तु काम में लेने का हठाप्रह क्यों ?

सचित पूजा करनेवाले क्या कभी पूजा में उल्लिखित सामग्री के अनुसार पूरा निर्वाह कर पाते हैं ? जरा विचार करें- पूजाओं के पदों में तो कंचनझारी में क्षीरसागर का जल एवं रत्नदीप समर्पित करने की तथा नाना प्रकार के सरस व्यंजनों से पूजा करने की बात आती है । पर आज क्षीरसागर का जल तो क्या कुएँ का पानी कठिन हो रहा है और रत्नदीप तो हमने केवल पुस्तकों में ही देखे हैं । १ आखिर में जब सभी जगह कल्पना से ही "वर नीर क्षीर समुद्र घट भरि अग्र तसु बहु विधि नचू " - देव-शास्त्र-गुरु पूजा: कविवर द्यानतराय आवश्यकता की पूर्ति के साथ-साथ समृद्धि के भी साधन हैं । इसी हेतु से दूध-दही-घी आदि का भी अभिषेक-पूजन एवं हवन आदि में उपयोग नहीं होना चाहिए । तथा इसीकारण निस्तुष्ट-निर्मल-शुभ तण्डुल और जल-चन्दन-नैवेद्य-दीप-धूप-फल आदि प्राकृतिक व सूखे-पुराने प्रासुक पदार्थ ही पूजन के योग्य कहे गये हैं ।

भले ही जल-चन्दन-दीप-धूप और फल लौकिक दृष्टि से सोना-चाँदी एवं जवाहरात की भाँति बहुमूल्य नहीं हों, किन्तु जीवनोपयोगी होने से ये पदार्थ बहुमूल्य ही नहीं, बल्कि अमूल्य भी हैं । जल भले ही बिना मूल्य के मिल जाता हो, परन्तु जल के बिना जीवन संभव नहीं है, इसीकारण उसे जीवन भी कहा है । तथा चन्दन, अक्षत, दीप, धूप, पुष्प, फलादि सामग्री भले ही जल की भाँति जीवनोपयोगी न हो, तथापि "कर्पूरं घनसारं च हिमं सेवते पुण्यवान्" की उक्त्यनुसार इसका सेवन (उपभोग) पुण्यवानों को ही प्राप्त होता है । इस्तरह यद्यपि ये पदार्थ भी सम्मानसूचक होने से पूजन के योग्य माने गये हैं, किन्तु अहिंसा की दृष्टि से इन सब का प्रासुक व निर्जन्तुक होना आवश्यक है ।

जब हमारे यहाँ कोई विशिष्ट अतिथि (मेहमान) आते हैं तो हम उनके स्वागत में अपने घर में उपलब्ध उत्कृष्टतम् पदार्थ उनकी सेवा में समर्पित करते हैं। स्वयं तो स्टील की थाली में भोजन करते हैं और उन्हें चाँदी की थाली में कराते हैं। स्वयं पुराने कम्बल-चादर ओढ़ते-बिछाते हैं और मेहमान के लिए नये-नये वस्त्र- बर्तन आदि काम में लेते हैं। उसीतरह भगवान् जिनेन्द्र की पूजन के लिये आचार्यों ने उत्तमोत्तम बहुमूल्य जीवनोपयोगी और सम्मानसूचक पदार्थों को समर्पण करने की भावना प्रकट की है।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि जो-जो पदार्थ पूजनों में लिखे हैं, वे सभी पदार्थ उसी रूप में पूजन में अनिवार्य रूप से होने ही चाहिए। जिसके पास जो संभव हो, अपनी शक्ति और साधनों के अनुसार प्राप्त पूजन सामग्री द्वारा पूजन की जा सकती है। इतना अवश्य है कि वह पूजन सामग्री अचित्त, निर्जन्तुक-प्रासुक व पवित्र हो।

सचित्त द्रव्यों से पूजन का निषेध करते हुए वे आगे लिखते हैं-

"जो इस दुषकमाल में विकलत्रय जीवनि की उत्पत्ति बहुत है, अर पुष्पनि में वे इन्द्री, तेन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्री त्रस जीव प्रकट नेत्रनि के गोचर दौड़ते देखिये हैं.....। अर पुष्पादि में त्रस जीव तो बहुत ही हैं। अर बादर निगोद जीव अनंत हैं.....। तातैं ज्ञानी धर्म बुद्धि हैं ते तो समस्त कार्य यत्नाचार तैं करो.....।"⁹

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि आगम में सचित्त व अचित्त द्रव्य से पूजन का विधान है, वह कहाँ किस अपेक्षा है- यह समझकर हमें अचित्त द्रव्य से ही पूजा करना चाहिये।

पं. सदासुखदासजी के ही शब्दों में-

"जे सचित्त के दोष तैं भयभीत हैं, यत्नाचारी हैं, ते तो प्रासुक जल, गन्ध, अक्षत कूँ चन्दन कुमकुमादि तैं लिप्त करि, सुगन्ध रंगीन चावलों में पुष्पनि का संकल्प कर पुष्पनि तैं पूजैं हैं तथा आगम में कहे सुवर्ण के पुष्प व रूपा के पुष्प तथा रत्नजटित सुवर्ण के पुष्प तथा लवंगादि अनेक मनोहर पुष्पनि करि पूजन करें हैं, बहुरि रत्ननि के दीपक व सुवर्ण रूपामय दीपकनि करि पूजन करें हैं पुष्पनि करि पूजन करें हैं, बहुरि रत्ननि के दीपक व सुवर्ण रूपामय दीपकनि करि पूजन करें हैं..... तथा बादाम, जायफल, पुंगीफलादि विशुद्ध प्रासुक फलनि तैं पूजन करै हैं।"¹⁰

यद्यपि पूजन में सर्वत्र भावों की ही प्रधानता है, तथापि अष्टद्रव्य भी हमारे उपयोग की विशेष स्थिरता के लिये अवलम्बन के रूप में पूजन के आवश्यक अंग माने गये हैं। आगम में भी

पूजन के अष्टद्रव्यों का विधान है, किन्तु पूजन सामग्री में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि ऐसी कोई वस्तु पूजन के अष्टद्रव्य में सम्मिलित न हो, जो हिंसामूलक हो और जिसके कारण लोक की- जगत की संचालन व्यवस्था में कोई बाधा या अवरोध उत्पन्न होता हो।

यही कारण है कि गेहूँ, चना, जौ आदि अनाजों को पूजन सामग्री में सम्मिलित नहीं किया गया है, क्योंकि वे बीज हैं, बोने पर उगते हैं। देश की

१. र.क.श्रा. टीका पण्डित सदासुखदास श्लोक ११९, पृष्ठ २११

२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका पं. सदासुखदास श्लोक ११९, पृष्ठ २०६

आवश्यकता की पूर्ति के साथ-साथ समृद्धि के भी साधन हैं। इसी हेतु से दूध-दही-घी आदि का भी अभिषेक-पूजन एवं हवन आदि में उपयोग नहीं होना चाहिए। तथा इसीकारण निस्तुष्ट-निर्मल-शुभ तण्डुल और जल-चन्दन-नैवेद्य-दीप-धूप-फल आदि प्राकृतिक व सूखे-पुराने प्रासुक पदार्थ ही पूजन के योग्य कहे गये हैं।

भले ही जल-चन्दन-दीप-धूप और फल लौकिक दृष्टि से सोना-चाँदी एवं जवाहरात की भाँति बहुमूल्य नहीं हों, किन्तु जीवनोपयोगी होने से ये पदार्थ बहुमूल्य ही नहीं, बल्कि अमूल्य भी हैं। जल भले ही बिना मूल्य के मिल जाता हो, परन्तु जल के बिना जीवन संभव नहीं है, इसीकारण उसे जीवन भी कहा है। तथा चन्दन, अक्षत, दीप, धूप, पुष्प, फलादि सामग्री भले ही जल की भाँति जीवनोपयोगी न हो, तथापि "कर्पूरं घनसारं च हिमं सेवते पुण्यवान्" की उक्त्यनुसार आवश्यक यह है कि पूजन साहित्य सरल और सुबोध भाषा में लिखा जावे। यद्यपि प्राचीन पूजनें अपने युग की अत्यन्त सरल एवं सुबोध ही हैं, तथापि काल परिवर्तन के प्रवाह से उनकी भाषा वर्तमान युग के पाठकों को सहज ग्राह्य नहीं रही है। ऐसी स्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि अधिक से अधिक पूजनें आज की सरल-सुबोध भाषा में भी लिखी जावें और उनका भी प्रचार-प्रसार हो; साथ ही यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि नये और सरल-सुबोध के व्यामोह में हम अपनी पुरातन निधि को भी न विसर जावें।

आवश्यकता समुचित सन्तुलन की है, न तो हम प्राचीनता के व्यामोह में विकास को अवरुद्ध करें और न ही सरलता के व्यामोह में पुरातन को विस्मृति के गर्त में डाल दें। नई पूजने बनाने के व्यामोह में आगम-विरुद्ध रचना न हो जावे, इसका भी ध्यान रखना अत्यावश्यक है।

प्राचीन इतिहास सुरक्षित रखने के साथ-साथ हर युग में नया इतिहास भी बनना चाहिए; कहीं ऐसा न हो कि भविष्य के लोग कहें कि इस युग में ऐसे भक्त ही नहीं थे, जो पूजने लिखते। नवनिर्माण की दृष्टि से भी युग को समृद्ध होना चाहिए और प्राचीनता को सँजोने में भी पीछे नहीं रहना चाहिए।

प्राचीन भक्ति साहित्य में समागत कुछ कथनों पर आज बहुत नाक-भों सिकोड़ी जाती है। कहा जाता है कि उस पर कर्तावाद का असर है, क्योंकि उसमें भगवान को दीन-दयाल, अधम-उधारक, पतित-पावन आदि कहा गया है, भगवान से पार लगाने की प्रार्थनायें भी कम नहीं की गई हैं; पर ये सब व्यवहार के कथन हैं। व्यवहार से इसप्रकार के कथन जिनागम में भी पाये जाते हैं; पर उन्हें औपचारिक कथन ही समझना चाहिए।

मूलाचार के पाँचवें अधिकार की १३७ वीं गाथा में ऐसे कथनों को असत्यमृषा भाषा के प्रभेदों में याचनी भाषा बतलाया है। जिस भाषा के द्वारा किसी से याचना-प्रार्थना की जाती है, जो न सत्य हो और न झूठ हो।।

पाँचवें अधिकार की १२९ वीं गाथा के अर्थ में भाषा समिति के रूप में भी यही बताया है। इससे ये कथन निर्दोष ही सिद्ध होते हैं।

१४. मूलाचार पृष्ठ ८९ (शास्त्रकार प्रति सोलापुर) २. मूलाचार पृष्ठ १८६

बहुमूल्य जगत का वैभव यह, क्या हमको सुखी बना सकता।

अरे ! पूर्णता पाने में, क्या इसकी है आवश्यकता ॥

मैं स्वयं पूर्ण हूँ अपने में, प्रभु है अनर्थ्य मेरी माया ।

बहुमूल्य द्रव्यमय अर्थ्य लिए, अर्पण के हेतु चला आया ॥।।

श्री जुगलकिशोरजी 'युगल' कृत देव-शास्त्र-गुरु पूजन में यह भावना

और भी सशक्त रूप में व्यक्त हुई है:-

अबतक अगणित जड़ द्रव्यों से, प्रभु भूख न मेरी शांत हुई ।

तृष्णा की खाई खूब भरी, पर रिक्त रही वह रिक्त रही ॥

युग-युग से इच्छा सागर में, प्रभु गोते खाते आया हूँ ।

पंचेन्द्रिय मन के घट् रस तज, अनुपम रस पीने आया हूँ ॥।

X

X

X

जग के जड दीपक को अबतक, समझा था मैंने उजियारा ।

झंझा के एक झाकोरे में, जो बनता घोर तिमिर कारा ॥

अतएव प्रभो ! यह नश्वर दीप, समर्पण करने आया हूँ ।

तेरी अन्तर लौ से निज अन्तर, दीप जलाने आया हूँ ॥२

डॉ. भारिल्ल की पूजनों में यह ध्वनि लगभग सर्वत्र ही सुनाई देती है। सिद्ध पूजन के अर्घ्य के छन्द में यह बात सटीक रूप में व्यक्त हुई है:-

जल पिया और चन्दन चरचा, मालायें सुरभित सुमनों की ।

पहनी तन्दुल सेये व्यंजन, दीपावलियाँ की रत्नों की ॥

सुरभी धूपायन की फैली, शुभ कर्मों का सब फल पाया ।

आकुलता फिर भी बनी रही, क्या कारण जान नहीं पाया ॥

जब दृष्टि पड़ी प्रभुजी तुम पर, मुझको स्वभाव का भान हुआ ।

सुख नहीं विषय भोगों में है, तुमको लख यह सद्ज्ञान हुआ ॥

जल से फल तक का वैभव यह, मैं आज त्यागने हूँ आया ।

होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया ॥

पूजन पढ़ते समय जबतक उसका भाव पूरी तरह ध्यान में न आवे, तब तक उसमें जैसा मन लगना चाहिए, वैसा लगता नहीं है। इसके लिए

१. हुकमचन्दजी भारिल्ल: देवशास्त्र-गुरु-पूजन २. युगलजी कृत देव-शास्त्र-गुरु पूजन: नैवेद्य एवं दीप के पद

सिद्धचक्रमण्डल विधान: अनुशीलन

हिन्दी पूजन-भक्ति साहित्य में एक विधा मण्डल पूजन-विधान की भी है। ये मण्डल पूजन-विधान विशेष अवसरों पर विशेष आयोजनों के साथ किये जाते हैं। इस विधा के कवि संतलाल, टेकचन्द, स्वरुपचन्द,

वृन्दावन आदि हैं।

पूजा विधानों में सिद्धचक्रविधान का सर्वाधिक महत्व है, क्योंकि सिद्धचक्रविधान का प्रयोजन सिद्धों के गुणों का स्मरण करते हुये अपनी आत्मा को सिद्धदशा तक पहुँचाना होता है और आत्मा के लिये इससे उत्कृष्ट अन्य उद्देश्य नहीं हो सकता।

हिन्दी विधानों में सिद्धचक्रमंडल विधान के रचयिता कविवर संतलाल का नाम सर्वोपरि है, क्योंकि उनकी यह रचना साहित्यिक दृष्टि से तो उत्तम है ही, साथ ही भक्ति काव्य होते हुये भी आध्यात्मिक एवं तात्त्विक भावों से भरपूर है। एक-एक अर्ध्य के पद का अर्थगांभीर्य एवं विषयवस्तु विचारणीय है।

तत्त्वज्ञानपरक जागृतविवेक, विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि एवं निष्काम भक्ति की त्रिवेणी जैसी इसमें प्रवाहित हुई है, अन्यत्र दिखाई नहीं देती। निश्चय ही हिन्दी विधान पूजा साहित्य में कविवर संतलाल का उल्लेखनीय योगदान है।

इस विधान की आठों जयमालायें एक से बढ़कर एक हैं। सभी में सिद्धों का विविध आयामों से तत्त्वज्ञानपरक गुणगान किया गया है। इनमें न तो कहीं लौकिक कामनाओं की पूर्ति विषयक चाह ही प्रकट की गई है और न प्रलोभन ही दिया गया है।

पहली जयमाला में ही सिद्धभक्ति के माध्यम से गुणस्थान क्रम में संसारी से सिद्ध बनने की सम्पूर्ण प्रक्रिया अति संक्षेप में जिस खूबी से दर्शाई गई है, वह द्रष्टव्य है:-
सहजता से व्यक्त हो गई है-

करुणानिधि तुम को समझ नाथ, भगवान भरोसे पड़ा रहा।

भरपूर सुखी कर दोगे तुम, यह सोचे समुख खड़ा रहा॥

तुम वीतराग हो लीन स्वयं में, कभी न मैंने यह जाना।

तुम हो निरीह जग से कृत-कृत, इतना ना मैंने पहचाना॥१

इसीप्रकार शास्त्र के यथार्थ स्वरूप को दर्शानेवाली निम्नांकितपंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं-

महिमा है अगम जिनागम की, महिमा है.....॥ टेक ॥

जाहि सुनत जड़ भिन्न पिछानी, हम चिन्मूरति आत्म की।

रागादिक दुःख कारन जानै, त्याग दीनि बुद्धि भ्रम की।

ज्ञान ज्योति जागी उर अन्तर, रुचि वाढ़ी पुनि शम-दम की॥२

X

X

X

वीतरागता की पोषक ही, जिनवाणी कहलाती है।

यह है मुक्ति का मार्ग निरन्तर, जो हमको दिखलाती है॥३

X

X

X

सो स्याद्वादमय सप्तभंग, गणधर गौथे बारह सुअंग।

रवि-शशि न हरै सो तम हराय, सो शास्त्र नमों बहु प्रीति लाय॥४

देखो, शास्त्र का स्वरूप लिखते हुए सभी कवियों ने इसी बात पर ही जोर दिया है कि जिनवाणी रूपी गंगा वह है जो अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप को दर्शनेवाली हो, भेदविज्ञान प्रकट करनेवाली हो, मिथ्यात्वरूप महातम का विनाश करनेवाली हो, विविध नयों की कल्लोलों से विमल हो, स्याद्वादनय व सप्तभंग से सहित हो और वीतरागता की पोषक हो। जो राग-द्वेष को बढ़ाने में निमित्त बने, वह वीतराग वाणी नहीं हो सकती।

जिनवाणी की परीक्षा उपर्युक्त लक्षणों से ही होनी चाहिए। किसी स्थान विशेष से प्रकाशित होने से उसमें भक्ति या अभक्ति प्रकट करना या सच्चे-झूठे का निर्णय करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।

१. डॉ. हुकमचन्द भारिल्लः देव-शास्त्र-गुरु पूजन, जयमाला। २. कविवर भागचन्दजीः जिनवाणी स्तुति।

२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्लः देव-शास्त्र-गुरु पूजन, जयमाला। ४. कविवर द्यानतरायः देव-शास्त्र-गुरु पूजन, जयमाला।

चाह तीव्र कषाय केबिना सम्भव नहीं है और ज्ञानी भक्त को तीव्र कषाय रूप पाप भाव नहीं होता।

मैना सुन्दरी ने सिद्धचक्रविधान किया था, किन्तु पति का कोढ़ मिटाने के लिए नहीं किया था, बल्कि पति का दुःख देखकर उसे जो आकुलता होती थी, उससे बचने के लिए एवं पति का उपयोग जो बारम्बार पीड़ी चिन्तन रूप आर्तध्यानमय होता था, उससे बचाने के लिए सिद्धचक्र का पाठ किया था, क्योंकि मैना सुन्दरी तत्वज्ञानी तो थी ही और अगले भव में मोक्षगामी भी थी। कोटिभट राजा श्रीपाल भी तत्वज्ञानी व तद्भव मोक्षगामी महापुरुष थे। क्या वे यह नहीं जानते थे कि वीतरागी सिद्ध भगवान किसी का कुछ भला-बुरा नहीं करते ? फिर भी अपनी आकुलता रूप

पापभाव से बचने के लिए एवं समताभाव बनाये रखने के लिए इससे बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं है, अतः ज्ञानीजन भी यही सब करते हैं, पर कोई लौकिक सुख की कामना नहीं करते।

आगम में भी यही कहा है कि लौकिक अनुकूलताओं के लक्ष्य से वीतराग देव-गुरु-धर्म की आराधना से भी पापबन्ध ही होता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं-

"पुनश्च, इस (इन्द्रिय जनित सुख की प्राप्ति एवं शारीरिक दुःख के विनाश रूप) प्रयोजन के हेतु अरहन्तादिक की भक्ति करने से भी तीव्र कषाय होने के कारण पापबन्ध ही होता है, इसलिए अपने को इस प्रयोजन का अर्थी होना योग्य नहीं है।"⁹

अतः हमें वीतराग देव-गुरु-धर्म (शास्त्र) का सही स्वरूप समझकर एवं उनकी भले प्रकार से पहचान व प्रतीति करके सभी पूजन-विधान के माध्यम से एक वीतराग भावों का ही पोषण करना चाहिए।

१. मोक्षमार्गप्रकाशकः प्रथम अध्याय, पृष्ठ ७

उलटा जुर्माना और भरना पड़ा। इसकारण अपनी तो भाई ! अब पूजा-पाठ में कुछ श्रद्धा नहीं रही।"

तीसरा कहेगा- "भाई ! विधान में पैसा तो हमने भी कम खर्च नहीं किया था, परन्तु हम तो यह समझते हैं कि जब अपना भाग्य खोटा हो तो बेचारे भगवान् भी क्या कर सकते हैं ? जैसी करनी वैसी भरनी। फिर भी भाई ! हमारा तो भगवान् की दया से जो भी हुआ अच्छा ही हुआ, विधान न करते तो केस तो फँसी का ही था, फँसी से बच भी आते तो जन्मभर की जेल तो होती ही, परन्तु विधान का ही प्रताप है कि तीन साल की सजा से पल्ला छूट गया। धन्य है भाई ! भगवान् की महिमा.....।"

इसप्रकार जो सिद्धचक्र विधान हमें सिद्धचक्र में सम्मिलित करा सकता है, आत्मा के अनादिकालीन मिथ्यात्व, अज्ञान एवं कषायभावों के कोढ़ को कम कर सकता है, मिटा सकता है; हमने अपनी मान्यता में उसकी महिमा को मात्र शारीरिक रोग मिटाने या अपनी अत्यन्त तुच्छ-लौकिक विषय-कषाय जनित कामनाओं की पूर्ति करने तक ही सीमित कर दिया है तथा वीतराग भगवान् को पर के सुख-दुःख का कर्ता-हर्ता मानकर अपने अज्ञान व मिथ्यात्व का ही पोषण किया है। और मजे की बात तो यह है कि अपने इस अज्ञान के पोषण में प्रथमानुयोग की शैली में लिखी

गई श्रीपाल-मैनासुन्दरी की पौराणिक कथा को निमित्त बनाया है। परमपवित्र उद्दश्य से लिखी गई उस धर्मकथा का प्रयोजन तो केवल अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि अव्युत्पन्न जीवों की पाप प्रवृत्ति का छुड़ाकर मोक्षमार्ग में लगाने का था, जिसे हमने मिथ्यात्व की पोषक बना दिया है। इससे ज्ञात होता है कि अज्ञानी शास्त्र को शास्त्र कैसे बना लेते हैं।

क्या उपर्युक्त विचार मिथ्यात्व व अज्ञान के पोषक नहीं हैं और क्या सिद्धचक्र विधान की महिमा को कम नहीं करते ? अरे ! सिद्धों की आराधना का सच्चा फल तो वीतरागता की वृद्धि होना है, क्योंकि वे स्वयं वीतराग हैं। सिद्धों का सच्चा भक्त उनकी पूजा-भक्ति के माध्यम से किसी भी लौकिक लाभ की चाह नहीं रखता, क्योंकि लौकिक लाभ की जब देखा कि जैनतरों की भौति जैन भी जिनेन्द्रदेव की आराधना छोड़कर उन्हीं देवी-देवताओं की ओर आकर्षित होकर अपने वीतराग धर्म से विमुख होते जा रहे हैं तो कतिपय विचारकों ने धर्म वात्सल्य एवं करुण भाव से नवग्रहविधान की रचना करके यह मध्यम मार्ग निकाला होगा, जिसमें उन्होंने स्पष्ट कहा कि- ग्रह शान्ति के लिये अन्य देवी-देवताओं के द्वारा खटखटाने की जरूरत नहीं है, जिनेन्द्र देव की आराधना से ही अनिष्ट का नियवारण होगा। कहा भी है-

"अर्कचन्द्र कुज सौम्य गुरु, शुक्रशनिश्चर राहु ।

केनु ग्रहारिष्ट नाशने, श्री जिनपूज रचाहु ॥"१

X X X

"श्री जिनवर पूजा किये, ग्रह अनिष्ट मिट जाय ।

पंच ज्योतिषी देव सब, मिलि सेवे प्रभु पाय ॥"२

यद्यपि सभी धर्मों में निष्काम भक्ति ही उत्कृष्ट मानी गई है, तथापि इसप्रकार की पूजा बनाने का मुख्य प्रयोजन यह था कि पूजक पहल देवी-देवताओं की पूजा छोड़कर जिनपूजा करना आरम्भ करे, जिससे गृहीत मिथ्यात्व से बच सकें। तदर्थ यह बताना जरुरी था कि जिस फल की प्राप्ति के लिये तुम देवी-देवताओं को पूजते हो, वही सब फल जिनपूजा से प्राप्त हो जावेगा। अन्यथा वे उस गलत मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में नहीं आते। जिनेन्द्र पूजा से लौकिक फलों की पूर्ति की बात सर्वथा असत्यार्थ भी तो नहीं है; क्योंकि मन्दकषाय होने से जो सहज पुण्यवंध होता है, उससे सभी प्रकार की लौकिक अनुकूलतायें भी प्राप्त तो हो ही जाती हैं

? तथापि कामना के साथ की गई पूजा-भक्ति निष्काम भक्ति की तुलना में हीन तो है ही, इस धुव सत्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

कुछ लोग तो ग्रहों की शान्ति हेतु ग्रहों की भी पूजा करने लगे थे, उनकी दृष्टि से उपर्युक्त दूसरे दोहे में यह बताया गया है कि नवग्रहों की पूजा करना योग्य नहीं है, क्योंकि नवग्रहों के रूप में जो ये ज्योजिषी देव हैं, वे स्वयं भी सब मिलकर जिनेन्द्र के चरणों की सेवा करते हैं।

१. नवग्रहविधानः प्रथम समुच्चय पूजा की स्थापना का दोहा।

२. नवग्रहविधानः प्रथम पूजा की जयमाला का प्रथम दोहा।

नवग्रहविधान में इन्हीं उपर्युक्त नवदेवताओं की पूजन की जाती है, नवग्रहों की नहीं। जहाँ तक नवग्रहों की शान्ति का सवाल है सा वह तो अपने पुण्य-पाप के अधीन है, किन्तु इतना अवश्य है कि वीतराग देव की निष्कामभक्ति करने से सहज ही पापकर्म क्षीण होते हैं और पुण्यकर्म बँधते हैं, इससे बाह्य अनुकूलता भी सहज ही प्राप्त हो जाती है। इस संबंध में पण्डित ठोड़रमलजी का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है:-

"यहाँ कोई कहे कि - जिससे इन्द्रियजनित सुख उत्पन्न हो तथा दुःख का विनाश हो - ऐसे भी प्रयोजन की सिद्धि इनके द्वारा होती है या नहीं ? उसका समाधानः-

जो अरहंतादि के प्रति स्तवनादि रूप विशुद्ध परिणाम होते हैं, उनसे अघातिया कर्मों की साता आदि पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है और यदि वे (भक्ति स्तवनादि के) परिणाम तीव्र हों तो पूर्वकाल में जो असाता आदि पाप-प्रकृतियों का बन्ध हुआ था, उन्हें भी मन्द करता है अथवा नष्ट करके पुण्यप्रकृतिरूप परिणमित करता है, और पुण्य का उदय होने पर स्वयमेव इन्द्रियसुख की कारणभूत सामग्री प्राप्त होती है। तथा पाप का उदय दूर होने पर स्वयमेव दुःख की कारणभूत सामग्री दूर हो जाती है। इसप्रकार इस प्रयोजन की भी सिद्धि उनके द्वारा होती है। अथवा जो जिनशासन के भक्त देवादिक हैं, वे उस पुरुष को अनेक इन्द्रिय सुख की कारणभूत सामग्रियों का संयोग कराते हैं और दुःख की कारणभूत सामग्रियों को दूर करते हैं- इसप्रकार भी इस प्रयोजन की सिद्धि उन अरहंतादिक द्वारा होती है। परन्तु इस प्रयोजन से कुछ भी अपना हित नहीं होता, क्योंकि यह आत्मा कषाय भावों से बाह्य सामग्रियों में इष्ट-अनिष्टपना मानकर

स्वयं ही सुख-दुःख की कल्पना करता है। कषाय बिना बाह्य सामग्री कुछ सुख-दुःख की दाता नहीं है। इसलिए इन्द्रिय जनित सुख की इच्छा करना और दुःख से डरना - यह भ्रम है।⁹

१. मोक्षमार्गप्रकाशकः पृष्ठ ६

आरती का अर्थ

"पूजन" शब्द की भौति ही "आरती" शब्द का अर्थ भी आज बहुत संकुचित हो गया है। आरती को आज एक क्रिया विशेष से जोड़ दिया गया है, जबकि आरती पंचपरमेष्ठी के गुणगान को गुणगान को कहते हैं। जिनदेव के गुणगान करना ही जिनेन्द्र की वास्तविक आरती है।

पूजन साहित्य में "आरती" शब्द जहाँ-जहाँ भी आया है, सभी जगह उसका अर्थ गुणगान करना ही है। इस संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण उद्घारण द्रष्टव्य हैं:-

देव-शास्त्र-गुरु रत्न शुभ, तीन रत्न करतार।

भिन्न-भिन्न कहुँ आरती, अल्प सुगुण विस्तार॥१

देखिए ! इस पद्य में देव-शास्त्र-गुरु को तीन रत्न कहा गया है तथा इन तीनों रत्नों को क्रमशः सम्यगदर्शन, सम्यगज्ञान, सम्यक्-चारित्ररूप तीनों रत्नों का कर्ता (निमित्त) कहा गया है। तथा "भिन्न-भिन्न कहुँ आरती" कहकर तीनों का भिन्न-भिन्न गुणानुवाद करने का संकल्प किया गया है।

इसीप्रकार पंचमेरु पूजा, गुरु पूजा, दशलक्षणधर्म पूजा, क्षमावाणी पूजा, सिद्धचक्रमण्डल विधान आदि के निम्नांकित पदों से भी 'आरती' का अर्थ गुण-गान करना ही सिद्ध होता है।

पंचमेरु की 'आरती', पढ़े सुनै जो कोय।

द्यानत फल जानै प्रभु, तुरत महाफल होय॥२

X X X

तीन घाटि नव कोडि सब, वन्दों शीष नवाय।

गुण तिन अद्वाईस लों, कहुँ 'आरती' गाय॥३

दशलक्षण बन्दौ सदा, मन वांछित फलदाय।

कहों 'आरती' भारती, हम पर होहु सहाय॥४

११. देव-शास्त्र-गुरु पूजन: कविवर द्यानतराय, जयमाला का प्रथम छन्द

१२. पंचमेरु पूजन (जयमाला का अन्तिम छन्द): कविवर द्यानतराय ।

१३. गुरु पूजन: कविवर द्यानतराय: जयमाला का प्रथम छन्द ।

१४. दशलक्षण धर्म पूजा: जयमाला का प्रथम छन्द ।

उनतिस९ अंग की 'आरती', सुनो भविक चित लाय ।

मन-वच-तन सरधा करो, उत्तम नरभव पाय ॥२

यह क्षमावाणी 'आरती', पढ़ै-सुनै जो कोय ।

कहै 'मल्ल' सरधा करो, मुक्ति श्रीफल होय ॥३

X X X

जय आरत भारत महा, गारत करि जय पाय ।

विजय 'आरती' तिन कहूँ पुरुषारथ गुण गाय ॥४

मंगलमय तुम हो सदा, श्री सन्मति सुखदाय ।

चॉदनपुर महावीर की, कहूँ 'आरती' गाय ॥५

इसप्रकार पूजन साहित्य में आये उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि आरती शब्द का अर्थ केवल स्तुति (गुणगान) करना है, अन्य कुछ नहीं । तथा उक्त सभी कथनों में - 'आरती' को पढ़ने, सुनने या कहने की ही बात कही गई है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि 'आरती' पढ़ने, सुनने या कहने की ही वस्तु है, क्रियारूप में कुछ करने की वस्तु नहीं ।

वैसे तो दीपक से आरती का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, परन्तु प्राचीनकाल में जिनालयों में न तो कोई बड़ी खिडकियाँ होती थीं और न ऐसे रोशनदान ही, जिनसे पर्याप्त प्रकाश अन्दर आ सके। दरवाजे भी बहुत छोटे बनते थे तथा बिजली तो थी ही नहीं । इसकारण उन दिनों प्रकाश के लिए जिनालयों में दिन में भी दीपक जलाना अति आवश्यक था । तथा भले प्रकार दर्शन के लिए दीपक को हाथ में लेकर प्रतिमा के अंगोपांगों के निकट ले जाना भी जरुरी था, क्योंकि दूर रखे दीपक के टिमटिमाते प्रकाश में प्रतिमा के दर्शन होना संभव नहीं था ।

१५. सम्यगदर्शन के८, सम्यगज्ञान के८ व सम्यक्चारित्र के१३: कुल २९ अंग हुए ।

१६. कविवर मल्ल क्षमावाणी पूजन: जयमाला का प्रथम छन्द ।

१७. कविवर मल्ल क्षमावाणी पूजन: जयमाला का प्रथम छन्द ।

१८. संत कवि: सिद्धचक्रविधान: प्रथम पूजन जयमाला ।

१९. चॉदनपुर महावीर पूजन: कवि पूर्णमल जैन

किन्तु आज जब जिनालयों में प्रकाश की पर्याप्त व्यवस्था है तो फिर इदीपक की आवश्यकता नहीं रह जाती। तथापि या तो हमारी पुरानी आदत के कारण या फिर अनभिज्ञता के कारण आज अनावश्यक रूप से अखण्ड दीप जल रहा है। तथा आरती का भी दीपक अभिन्न अंग बन बैठा है, इस कारण अब बिना दीपक के आरती आरती सी ही नहीं लगती।

अतः आज के संदर्भ में दीपक व आरती का यथार्थ अभिप्राय व प्रयोजन जानकर प्रचलित प्रथा को सही दिशा देने का प्रयास करना चाहिए।

मनोरथ पूर्ति

यह बात जुदी है कि पंचपरमेष्ठी के उपासकों को भी सातिशय पुण्य बंध होने से लौकिक अनुकूलतायें भी स्वतः

मिलती

देखी जाती हैं तथा वे उन अनुकूलताओं को एवं सुख सुविधाओं को स्वीकार करते हुए उनका उपभोग करते हुए भी देखे जाते हैं,

किन्तु सहज प्राप्त उपलब्धियों को स्वीकार करना अलग बात है

और उनकी कामना करना अलग बात। दोनों में जमीन आसमान का अन्तर है।

आतिथ्य सत्कार में नाना मिष्टानों का प्राप्त होना और उन्हें सहज स्वीकार कर लेना जुदी बात है और उनकी याचना करना

जुदी बात है। दोनों को एक नजर से नहीं देखा जा सकता।

ज्ञानी

अपनी वर्तमान पुरुषार्थ की कमी के कारण पुण्योदय से प्राप्त अनुकूलता के साथ समझौता को सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु वे पुण्य के फल की भीख भगवान से नहीं माँगते।

स्तुति (स्तोत्र) साहित्य

जैनदर्शन में विशाल पूजन साहित्य है, परन्तु उतना प्राचीन नहीं; जितना प्राचीन स्तुति साहित्य है। आचार्य समन्तभद्र के स्तोत्र जैनदर्शन के आद्य भवित्ति साहित्य में गिने जा सकते हैं।

वर्तमान में सम्पूर्ण स्तोत्र साहित्य में भक्तामर स्तोत्र सर्वाधिक प्रचलित स्तोत्र है। लाखों लोग इस स्तोत्र द्वारा प्रतिदिन परमात्मा की आराधना करते हैं। सहस्रों मातायें-बहिनें तो ऐसी भी हैं जो इस स्तोत्र का पाठ किये या सुने बिना जल तक ग्रहण नहीं करती हैं।

यद्यपि जिनेन्द्र भवित्ति का स्तोत्र साहित्य भी एक सशक्त माध्यम रहा है, किन्तु कालान्तर में उक्त स्तोत्र के साथ कुछ ऐसी कल्पित कथायें जुड़ गयी हैं, जिससे भ्रमित होकर भक्त लोगों ने इसको लौकिक कामनाओं की पूर्ति से जोड़ लिया है। स्व. पण्डित मिलापचन्द कटारिया ने अपने शोधपूर्ण लेख में लिखा है-

"इस सरल और वीतराग स्तोत्र को भी मन्त्र-तन्त्रादि और कथाओं के जाल से गूँथकर जटिल व सराग बना दिया है, इसके निर्माण के सम्बन्ध में भी मनगढ़न्त कथायें रच डाली हैं।"⁹

मुनि श्री मानतुंगाचार्य द्वारा यह केवल भवित्तिभाव से प्रेरित होकर निष्काम भावना से रचा गया भवित्ति काव्य है। इसमें कर्म बन्धन से मुक्त होकर संसारचक्र से छूटने के सिवाय कहीं कोई ऐसा संकेत भी नहीं है, जिसमें भक्त ने भगवान से कुछ लौकिक कामना की हो। जहाँ भय व रोग निवारण की परोक्ष चर्चा आई है, वह कामना के रूप में नहीं है; बल्कि वहाँ तो यह कहा है कि परमात्मा की शरण में रहनेवालों को जब विषय-कषायरूप काम-नागों का भी विष नहीं चढ़ता तो उसके सामने बेचारे सर्पादि जन्तुओं की क्या कथा? जब आत्मा का अनादिकालीन मिथ्यात्व का महारोग मिट जाता है तो तुच्छ जलोदरादि दैहिक रोगों की क्या बात करें?

२०. जैन निबन्ध रत्नावली, पृष्ठ ३३७; वीरशासन संघ, कलकत्ता

ज्ञानी धर्मात्मा की भक्ति में लौकिक स्वार्थ सिद्धि की गन्ध नहीं होती, कंचन-कामिनी की कामना नहीं होती, यश की अभिलाषा नहीं होती और भीरुता भी नहीं होती।

भय, आशा, स्नेह व लोभ से या लौकिक कार्यों की पूर्ति के लिये की गई भक्ति तो अप्रशस्तरूप राग होने से पापभाव ही है, उसका नाम भक्ति नहीं है।

उपसंहार

जब अनेक संस्कृतियों मिलती हैं, तब उनका एक दूसरे पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। जैन पूजन साहित्य पर भी अन्य भारतीय भक्ति साहित्य का प्रभाव देखा जा सकता है, परन्तु जितने भी कर्तृत्वमूलक कथन हैं, उन सभी को अन्य दर्शनों की छाप कहना उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि जैनदर्शन में व्यवहारनय से उक्त सम्पूर्ण कथन संभव हैं, परन्तु उसकी मर्यादा औपचारिक ही है।

अतः जिनभक्तों का यह मूल कर्तव्य है कि वे जिनभक्ति के स्वरूप को पहिचानें, भक्ति साहित्य में समागत कथनों के वजन को जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में समझें। औपचारिक कथनों एवं वास्तविक कथनों के भेदों को अच्छी तरह पहिचानें; सभी को एक समान सत्य स्वीकार करना उचित नहीं है।

पूजन साहित्य मात्र पढ़ लेने या बोल लेने की वस्तु नहीं है, उसका अध्ययन किया जाना आवश्यक है।

जैन पूजन और भक्ति साहित्य इतना विशाल है कि उस पर अनेक दृष्टियों से स्वतन्त्र रूप से अनुशीलन अपेक्षित है। विविध दृष्टिकोण से उसे वर्गीकृत कर यदि उसकी मीमांसा और समीक्षा की जावे तो एक विशाल ग्रन्थ का निर्माण सहज ही हो सकता है। लगता है कि अभी विद्वानों का ध्यान इस ओर नहीं गया है। पूजन साहित्य पर समीक्षात्मक शोध-खोज की महती आवश्यकता है।

मैंने तो यह अल्प प्रयास किया है। यदि शोधी-खोजी विद्वानों का ध्यान इस ओर गया और साधारण पाठकों को इससे अल्प लाभ भी मिला तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझँगा।

जिनपूजन के सन्दर्भ में श्री कान्जीस्वामी के उद्गार

(श्रावक धर्मप्रकाश से संकलित)

* भगवान के विरह में उनकी प्रतिमा को साक्षात् भगवान के समान समझकर श्रावक हमेशा दर्शन-पूजन करे। धर्मी को सर्वज्ञ का स्वरूप अपने ज्ञान में भासित हो गया है, इसलिए जिनविम्ब को देखते ही उसे उनका स्मरण हो जाता है।

* भगवान की प्रतिमा देखते ही अहो ! ऐसे भगवान !! इसप्रकार एकबार भी जिसने सर्वज्ञदेव के यथार्थ स्वरूप को लक्ष्यगत कर लिया उसका भव से बेड़ा पार है। श्रावक प्रातःकाल भगवान के दर्शन के द्वारा अपने इष्ट ध्येय को स्मरण करके बाद में ही दूसरी प्रवृत्ति करे।

इसीप्रकार स्वयं भोजन करने के पूर्व मुनिवरों को याद करे कि - अहा ! कोई सन्त-मुनिराज अथवा धर्मात्मा मेरे ऑगन में पधारें और भक्तिपूर्वक उन्हें भोजन कराके पीछे मैं भोजन करूँ । श्रावक के हृदय में देव-गुरु की भक्ति का ऐसा प्रवाह बहना चाहिए।

* जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-पूजन भी न करे और तू अपने को जैन कहलावे, यह तेरा कैसा जैनपना है ? जिस घर में प्रतिदिन भक्तिपूर्वक देव-गुरु-शास्त्र के दर्शन-पूजन होते हैं, मुनिवरों आदि धर्मात्माओं को आदरपूर्वक दान दिया जाता है; वह घर धन्य है और इसके बिना घर तो शमशान-तुल्य है।

* जिसप्रकार प्रिय पुत्र-पुत्री को न देखे तो माता को चैन नहीं पड़ती अथवा माता को न देखे तो बालक को चैन नहीं पड़ती; उसीप्रकार भगवान के दर्शन के बिना धर्मात्मा को चैन नहीं पड़ती। "अरे रे, आज मुझे परमात्मा के दर्शन नहीं हुए, आज मैंने मेरे भगवान को नहीं देखा, मेरे प्रिय नाथ के दर्शन आज मुझे नहीं मिले।" - इसप्रकार धर्मी को भगवान के दर्शन बिना चैन नहीं पड़ती।

* श्रावक प्रथम तो हमेशा देवपूजा करे। देव अर्थात् सर्वज्ञदेव। श्रावक उन सर्वज्ञदेव का स्वरूप पहचान कर प्रीति एवं बहुमानपूर्वक रोज-रोज उनका दर्शन-पूजन करे। पहले ही सर्वज्ञ की पहचान की बात कही है। जिसने सर्वज्ञ को पहचान लिया है और स्वयं सर्वज्ञ होना चाहता है, उस धर्मी को निमित्तरूप में सर्वज्ञता को प्राप्त अरहंत भगवान के पूजन का उत्साह आता ही है। जिनमन्दिर बनवाना, उसमें जिनप्रतिमा स्थापित करवाना, उनकी पंचकल्याणक पूजा-अभिषेक आदि उत्सव कराना, ऐसे कार्यों का उल्लास श्रावक को आता है - ऐसी उसकी भूमिका है,

इसलिए उसे श्रावक का कर्तव्य कहा है। जो उसका निषेध करे तो मिथ्यात्व है और मात्र इतने शुभराग को ही धर्म समझ ले तो उसको भी सच्चा श्रावकपना नहीं होता। - ऐसा जानो।

* जो निर्गन्धि गुरुओं को नहीं मानता, उनकी पहचान और उपासना नहीं करता, उसके तो सूर्य उगे हुए भी अंधकार है। इसीप्रकार जो वीतरागी गुरुओं के द्वारा प्रकाशित सत् शास्त्रों का अभ्यास नहीं करता, उसके नेत्र होते हुए भी ज्ञानी उसको अंधा कहते हैं। विकथा पढ़ा करे और शास्त्र-स्वाध्याय न करे, उसके नेत्र किस काम के? श्रीगुरु के पास रहकर जो शास्त्र नहीं सुनता और हृदय में धारण नहीं करता, उस मनुष्य के कान तथा मन नहीं हैं - ऐसा कहा है।